प्रथम सस्करण, १९३९
द्वितीय सस्करण, १९४२
तृतयी सस्करण, १९४५
मूल्य दो रुपए

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस

विचार-क्रम

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनो और अंजुमनो में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य, विचारो और भावो पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमे विचारो और भावो को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ करनेवालो ने हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हो तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमे आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमे शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नो की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी; पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने क़रीब के लोगों पर

अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते है। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग़ पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य मे यह गुण पूर्णरूप मे उसी अवस्था मे उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियो, भूत-प्रेत की कथाओ और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारो की प्रेम-गाथाओ और तिलिस्माती कहानियो मे भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयो का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप मे हो, चाहे कहानियो के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमे मनेमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान

थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति ; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन ; दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियो पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओ को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का ऑखो को। इन्हीं श्रृंगारिक भावो को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यो न हो। आशियाना (=घोसला) और क़फस (=पींजरा), वर्क़ (=विजली) और ख़िरमन की कल्प-नाएँ विरह-दशाओ के वर्णन मे निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ख़ूबी से दिखाई जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप ख़ूब जानते है।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है ; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनो-भावो और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है ? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग-मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता मे दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी,

उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हरएक की होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की क़द्रदानी रईसो और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है ? हमारे कवियो को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयो से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छाई हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारो पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिविम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगो के हृदयो को स्पन्दित करते है, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल मे लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य मे मन रमाते है। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य मे डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और श्रृंगारिक भावो का प्रति-विम्ब बना हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे मे फॅस चुकी है और उसमे उद्योग तथा संघर्ष का वल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यो की ओर से ऑखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि वड़ी तेज़ी से बदल रही है। अव साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अव वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओ पर भी विचार करता है, और उन्हे हल करता है। अब वह स्फ़ूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत् आश्चर्यजनक घटनाऍ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नो से दिलचस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते है। उसकी उत्कृष्टता की वर्त-मान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारो मे गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशो के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावो का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते है, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना मे पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममे शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो,—जो हममे सच्चा सङ्कल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने मे समाज की लगाम मजहब के हाथ मे थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य मे इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमे सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार मे यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दो और भावो की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वका-

लत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत् करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलो की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित—सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नही। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हो, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से ख़राब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौक़े पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है, अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानो तक जा पहुँचता है जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य मे वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवो की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी पात्र मनुष्यो से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य है, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है; क्योकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियो में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नही होते। हमे इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रो की ज़बान से वह ख़ुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी मे है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते है कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों को विस्तृति से हमे जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमे आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था मे वह हो उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममे जो कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज़ की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश मे रहता है, उसी तरह हम भी इस फ़िक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसी लिए हम साधु-फ़क़ीरों की खोज मे रहते है, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते है।

और हमारी सारी कमज़ोरियों की ज़िम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य

की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है, क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन मे कोई शंका—संदेह नही। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल-निनादिनी नदियाँ देखी है, नाचते हुए झरने देखे हैं,—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यो को देखकर हमारा अंतःकरण क्यो खिल उठता है? इसलिए कि इनमे रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजो का वर साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वो के समानुपात मे संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की, खोज मे रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नही। वह हममे वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावो की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेप, शत्रुता और मृत्यु है। यह विलगाव—विरोध प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता—दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और

स्वाधीन बनाता है, दूसरे शब्दो में. उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना मे वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था मे देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यो सामाजिक नियमो और रूढ़ियो के बन्धन मे पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यो न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात मे व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है; पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारो मे कला केवल मनोभावो के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यो न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और

कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणो से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हे दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयो मे नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रो के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन है अगर वे हममे हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवको की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना कि हम उनकी विरह व्यथा पर रोये, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई ? इन बातो से किसी ज़माने में हमे भावावेश हो जाता रहा हो ; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब ज़माना नही रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का सन्देश हो, अब तो हज़रते इकबाल के साथ हम भी कहते है—

रमूज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज़्ज़ते परवाज़,
गहे बशाख़े गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नही मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने लिए मैं घोंसले मे कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियो पर तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। आसमान पर छाई लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ मे अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नही हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते है। फूलो को देखकर हमे इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलो की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसी लिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावो, अनुभूतियो और विचारो से हमे आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक है। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थो की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान मे बैठकर जब चिड़ियों का कल-गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे है। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनो से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत, किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा,

हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और छोटे बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में क़दम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लि , उसका शीन-क़ाफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का ग़लत उपयोग

उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमे भी आकांक्षाऍ है,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाऍ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम मे सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नम्रता मे भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री है,—उस बच्चोवाली ग़रीब रूप-रहित स्त्री मे नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है, उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होंठो, कपोलो और भौंहो मे निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालो, पपड़ियॉ पड़े हुए होंठो और कुम्हलाये हुए गालो मे सौन्दर्य का प्रवेश कहॉ?

पर यह संकीर्ण-दृष्टि का दोप है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि मे विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होंठो और कपोलो की आड़ मे अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होंठो और कुम्हलाये हुए गालो के ऑसुओ मे त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हॉ, उसमे नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम मे पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोचलो पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते .जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यो न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?]

अथवा

चूँ मौज साज़े वजूदम ज़ सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भू-मण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारो आदमी कुछ अत्याचारियो की .गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठो पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमे अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारो के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशो मे तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य उससे मिलने मे अपना गौरव समझते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में

पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलो और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में रही हैं;—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया मे उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही,—जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं,—आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दरदर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखो निकल आये।

इसमे शक नही कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नही जाता ; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानो ने भी साहित्यकार बननेवालो के लिए कड़ी शर्तें लगाई है, और उनकी मानसिक, नैतिक आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गई है ; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृतिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गई है और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अङ्ग-रूप मे देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधना का औजार बनाये,—मानो उसमे और समाज मे सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममे से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्ति मिली है, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उ मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे जो समाज के पैसे ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज निजी लाभ उठाना ऐसा काम है जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के ला को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपन विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने क कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यो न करे,—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागो से सामान्यत परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार सम्मेलनो की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नही है, जिस पर उनमे विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते है तो हमे अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए, आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है, पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमे अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमे वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमे समाज मे उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमे वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओ तथा साहित्यो का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।

हमे अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिये और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये। हम जिस आर्थिक अवस्था मे जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमे यह काम कठिन अवश्य है; पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिये। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायेंगे जो जमीन पर पड़े रहने से

कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर मे उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासको की आवश्यकता है जिन्होने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल मे दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पॉव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमे क्यो सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यो हो ? सेवा मे जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है,– हमे समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यो हो ? दूसरो से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमे क्यो सताये ? हम अमीरो की श्रेणी मे अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दुम आजादम आगृना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तब येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरो के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तो के साथ कर्म-क्षेत्र मे प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार

से बेपरवाई ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा मे लिखता है। हमारा उद्देश्य देश मे ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमे अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रो में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियो पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य मे नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में हरएक जबान में ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिसमें हरएक भाषा मे अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियो के हृदयों मे सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान है। भारत की हरएक भाषा मे इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुये भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना, उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारो मे कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है ; पर हम उसकी ओर से आँखें नही बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था ; क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पिओ मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छन्दाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है ; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी सम्भावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी

हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

['प्रगतिशील लेखक-संघ' के लखनऊ अधिवेशन मे सभापति के आसन से दिया हुआ एक भाषण।]

—

कहानी-कला

[१]

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रन्थो मे जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं ; पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रन्थों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योकर समझाई जाती ? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तो द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वो का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन न होता था। सद्ग्रन्थो के रूपको और बाइबिल के parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमे प्रेम की कहानियाँ, जासूसी क़िस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रो की गप-शपसी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेजी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटो मे पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और तो और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाकिस समझी जाती है, जिसमे उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओ द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्मग्रन्थों ही में नहीं, साहित्य-ग्रन्थो मे भी प्रचलित थी। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत सी आख्यायिकाओ को एक शृंखला

मे बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें है। उनमे कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गई हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है; किन्तु उसमें किसी प्रकार का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गई। उसमे सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस में उपदेश की गुञ्जाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश मे शुक बहत्तरी के ढङ्ग की कथाएँ रची गई, जिनमें स्त्रियो की बेवफाई का राग अलापा गया है। यूनान मे हकीम ईसप ने एक नया ही ढङ्ग निकाला। उन्होने पशु-पक्षियो की कहानियो द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओ के कीर्तिगान की। हाँ, शेखसादी ने फारसी मे गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओ की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियो के हृदय इसके सुगन्ध से रञ्जित होते रहेगे। उन्नीसवी शताब्दी मे फिर आख्यायिकाओ की ओर साहित्यकारो की प्रवृत्ति हुई, और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओ मे गल्पो का यथेष्ट प्रचार है, पर मेरे विचार मे फ्रान्स और रूस के साहित्य मे जितनी उच्च कोटि की गल्पे पाई जाती है, उतनी अन्य योरपीय भाषाओ मे नहीं। अँगरेजी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिङ्ग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी है, लेकिन इनकी रचनाएँ गाई-डी० मोपासाँ, बालजक या पियेर-लोटी के टक्कर की नहीं। फ्रान्सीसी कहानियो मे सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त मोपासाँ और बालजक ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमे आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझाई गई है। रूस मे सबसे उत्तम कहानियाँ काउंट टाल्स्टाय की

हैं। इनमें कई तो ऐसी है, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तो की कोटि की है। चेकाफ ने बहुत कहानियाँ लिखी है, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमे रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रो के सिवा और कोई विशेषता नही। डास्टावेस्की ने भी उपन्यासो के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी है; पर उनमे मनोभावो की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गई है। भारत में बंकिमचन्द्र और डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमे से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओ, पात्रो और चरित्रो का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खीचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायँ। उनमे कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका मे इस बाहुल्य की गुञ्जाइश नही; बल्कि कई सुविज्ञ जनो की सम्मति तो यह है कि उसमे केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिये। उपन्यास मे आपकी कलम में जितनी शक्ति हो उतना ज़ोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिये, किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिये, (भाषा सरस होनी चाहिये) ये कोई दूषण नही। आख्यायिका मे आप महफिल के सामने से चले जायँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिये, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिये। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न

धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पैदा कीजिये, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण मे चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अँग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालो की देखा-देखी यन्त्रो-द्वारा, डायरी या टिप्पणियो-द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती है। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है, पर वास्तव मे इससे कहानी की सरलता मे वाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियो के लिए किसी अन्त की भी जरूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते है। आपको एक लेडी लन्दन के किसी होटल मे मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है, मैं तुझे अपना धन न दूँगी। कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं। अन्त मे माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा मे बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है। दोनो मे बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राजी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी खबर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल

जाती है। बस, कहानी समाप्त कर दी जाती है; क्योंकि realists अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिये कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

कहानी-कला

[२]

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहङ्कार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई, भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है।' उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसी लिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह ख़ुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है,—अन्तर इतना ही है कि वह इस खोज में रस का

मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसी लिए, अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियो के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है ; आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका मे, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत मे आध्यात्मिक रहस्यो को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध-जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल मे भी दृष्टान्तो और आख्यायिकाओ के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाये गये हैं।— सत्य इस रूप मे आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेपण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियो की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती है।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रो के सुख दुःख से हम जितना प्रभावित होते है, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते,—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियो में पात्रो से हमे एक ही दो मिनट के परिचय मे निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें

श्मशान में या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रो और मन के बीच मे जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-बहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है ? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दण्ड भी जीवन के माप-दण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दोयी नहीं है, उसके सुख दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम,—कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता;—कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन, कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा मे अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जबतक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत मे अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, पर, वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने मे संकोच न होना चाहिये कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है—कम से कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य मे भी हमारी

प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनो ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव, काव्य, नाटक, कथा,—किसी मे भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जबतक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है,—चाहे, वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा,—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओ की वेड़ियो से चिढ़। जीवन के हरएक विभाग मे उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की, बेड़ियो से मुक्त हो जाने की, छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम है; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा साहित्य मे भी विकास हुआ और उसके विषय मे चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गई। अलिफ़लैला उस वक्त का आदर्श था,—उसमे बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था,—पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियो की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्यरूप मे इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी छोटी कहानियो की ओर किसी का ध्यान न आता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं;

किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम मे समझिये, छोटी कहानियो ने साहित्य के और सभी अङ्गो पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने मे काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारो की प्रतिभा से, जिनमे बालज़क, मोपॉसॉ, चेखाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य है। हिन्दी मे पचीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमे दो-चार कहानियॉ न हो,—यहॉ तक कि कई पत्रिकाओ मे केवल कहानियॉ ही दी जाती हैं।

कहानियो के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने ख़याल' लेकर बैठ जायॅ और सारे दिन उसी की कुंजो में विचरते रहे। अब तो हम जीवन-संग्राम मे इतने तन्मय हो गये हैं कि हमे मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता ; अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमे विवश कर दिया है, हम चाहते है कि थोड़े-से-थोड़े समय मे अधिक मनोरंजन हो जाय,—इसी लिए सिनेमा-गृहो की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने मे महीनो लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टो मे उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं ; अतएव, हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दो मे कही जाय, उसमे एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमे कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियो मे उपदेश

नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्द भावों को जाग्रत् करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वह कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से,—मनोरंजन औ मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनो वैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है;—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोक तैयार हो जाता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते है और हमें चकित कर देते हैं;—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है,—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी मे बहुत 'विस्तृत विश्लेषण' की गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमे कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात मे आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालो को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते है कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी से आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रो के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य मे असफल है।

पाठको से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनो में हिन्दी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी लेखको की रचनाएँ पढ़ते है, उन पर विचार और बहस करते है, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखको मे विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है,—कहानी जीवन से बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमे कई रसो, कई चरित्रो और कई घटनाओ के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमे प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमे व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों मे कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावो की व्याख्या करने नहीं

बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणो मे एक-दो शब्दो से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते है जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावो का पूरा अनुमान कर लेते है,—पूरे वाक्य की जरूरत ही नही रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते,—हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओ की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है,—उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है।—खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

कहानी-कला

[३]

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अङ्ग रही है। हरएक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब कुछ भूलकर सुनने मे तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियो की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियो मे कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने और मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये, पर वह कहानियाँ अभी तक याद है और उन्ही कहानियो को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हरएक ज़बान पर हो।

कहानियो का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमे जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा सरित-सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ-लैला' आदि पुस्तको से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओ और प्रसंगो को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भाँति ही, आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा खयाल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ लैला की कथाओ का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासो का आनन्द नहीं उठा सकती। और अगर काउण्ट टाल्सटाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ लैला के सामने स्वयं

टाल्सटाय के 'वार ऐंड पीस' और ह्यूगो के 'ला मिज़रेबुल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। जन-रुचि परज और बिहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्रामगीतों मे बहुधा बड़े ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानो और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादायें बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य के आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव-हृदय के साँचे मे पड़कर संस्कृत हो गई हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमे अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है; पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका और रंगों और मनोभावो से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमे आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े-से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पायें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझनेवाले थोड़े-से कलाविद् ही रह जाते हैं; उसमे जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं; पर उनमें उस रस की कमी है, जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है।

हम हरएक विषय की भाँति साहित्य मे भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा मे उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतो के काल्पनिक चरित्रो को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हे यथार्थ काँटे पर तौलते है और जौ भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासो और आख्यायिकाओ मे अस्वाभाविक बातो के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिविम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप मे देखना चाहते हैं। उनमे जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासो मे पात्रो का केवल वाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावो तक पहुँचना चाहते है और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यो को खोलने मे सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते है कि किन मनोभावो से प्रेरित होकर उसने यह काम किया ; अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अङ्ग है।

प्राचीन कलाओं मे लेखक बिलकुल नेपथ्य मे छिपा रहता था। हम उसके विषय मे उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रो के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे उसके मनोभावो मे क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमे कुछ पता न चलता था. लेकिन आजकल उपन्यासो मे हमे लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारो और भावो द्वारा उसका रूप देखते रहते है और ये भाव जितने व्यापक और गहरे और अनुभव-पूर्ण होते है, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। यो कहना चाहिये कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर

करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पञ्च-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियो मे एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है, पर साहित्यिक मनोरंजन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममे सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्त्व के जो अंश हैं, वे जागृत हो। वास्तव मे मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन मे अपने आप को पूर्णरूप मे देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज मे रहता है, उसमे मिलकर रहता है, जिन मनोभावो से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात्—जीवन के अनन्त प्रवाह मे सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह मे बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं; परन्तु यदि स्वार्थ और अहङ्कार और ईर्ष्या की ये बाधाएँ न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओ को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसी लिए ऊँचा है कि वह एक क्षण मे ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा मे क्यो न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरो मे अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी मे इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनो से हुआ है; पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिये, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। हाँ, जो पत्र किसी विशेष नीति

या उद्देश्य से निकाले जाते हैं, उनमे कहानियो का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छा-पूर्ण भोजन चाहती है, पर फलो और मिठाइयो की जो क्षुधा हमे सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियो से तृप्त हो जाती है। हमारा खयाल है कि कहानियो ने, अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण संसार के प्राणियो को एक दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उनमे जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज़ ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरो पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियो से बिलकुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासाँ, अनातोले फ्रान्स, चेखोव और टालस्टाय की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रान्स और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरो और द्वीपो और पहाड़ो को लाँघता हुआ फ्रान्स और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान और मजदूर और विद्यार्थी हमे ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो।

हिन्दी मे २०-२५ साल पहले कहानियो की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बँगला या अँगरेजी कहानियो के अनुवाद छप जाते थे। परन्तु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ प्रतिमास न छपती हों। कहानियो के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियो का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन मे हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड लिये जाते थे, तो कड़ी डाँट पड़ती थी। यह खयाल किया जाता था कि किस्सो से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'फिसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों मे ऐसा खयाल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियाँ कहीं स्कूल कैरिकुलम मे रख दी जातीं, तो शायद पिताओ का एक डेपुटेशन इसके विरोध मे शिक्षा-विभाग के

अध्यक्ष की सेवा में पहुँचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियाँ पढ़ाई जाती है और परीक्षाओ मे उन पर प्रश्न किये जाते हैं। यह मान लिया गया है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकर करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हज़ार बरस पहले यूनान के विख्यात फिलासफर अफलातूँ ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना मे मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य है, जितने आज से पाँच हज़ार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन मे सदैव परिवर्तन होते रहते है। कितने ही सिद्धान्त, जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये हैं; पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावो से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि 'कहानी मे नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास मे नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं।' गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे मे चाहे ढाल सकता है; किसी दशा मे भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन-सत्य कहलाता है।

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानो ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् है उतनी ही परिभाषाएँ है। किन्हीं दो विद्वानो की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं हैं जिस पर सभी लोग सहमत हो।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियो की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियो के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियो के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं—पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति, सब आदमियों के चरित्र मे भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता – अभिन्नत्व मे भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ है—उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन, धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता : उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश मात्र भी

विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो कुछ धन संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरो का गला ही क्यों न काटना पड़े—वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी वलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाॅ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है—जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिये कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेगे। इसी भाॅति अन्य मानव-गुणो की भी मात्राएँ और भेद है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देख कर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद मे बाधक नही होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने मे आता है जहाॅ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाॅ प्रश्न होता है उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमे अपनी तरफ से काट-छाॅट, कमी-वेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये चरित्रों मे कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गरोह हो गये है। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप मे रख देता है। उसे इसमे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाॅ या ख़ूबियाॅ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता; बल्कि उसके विपरीत हुआ करता है—नेक आदमी धक्के खाते

हैं, यातनाएँ सहते है, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते है,—उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते है, नामवर होते है, यशस्वी बनते है—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियो मे जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग़-धब्बे रहते है, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओ का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारो तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमे सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिये यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है, क्योकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने मे अत्युक्तिसे काम लें और चित्र को उससे कही काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओ का चित्रण करने मे शिष्टता की सीमाओ से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार मे उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावो से नजात मिले—वह भूल जाय कि मै चिन्ताओं के बंधन मे पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियो के दर्शन हो; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमे किस्से कहानियो मे भी उन्हीं लोगो से सावका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यो?

अँधेरी गर्म कोठरी मे काम करते करते जब हम थक जाते हैं तो

इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें।—इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमे ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते है। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हे सांसारिक विषयों मे धोखा देती है, लेकिन कॉइएपन से ऊबे हुए प्राणियो को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी ऑखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। लेकिन जहॉ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहॉ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतो की मूर्तिमात्र हो—जिनमे जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता मे प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते है, जहॉ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रो में यह गुण नहीं है वह दो कौडी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप

लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठको का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटो और मदारियों, विदूषको और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्‌भावो का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र positive हो, जो, प्रलोभनो के आगे सिर न झुकायें; बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओ के पंजे मे न फँसे; बल्कि उनका दमन करे; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओ का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो पर अवलम्बित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ है, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रहीं हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियो का असर न पड़े—वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा

किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे है। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं ; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हे कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ, विचार-प्रधान होते हुए उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नही हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे है।

हमारा ख्याल है कि क्यो न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो का संघर्ष निभता रहे ? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनो मे जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये ; अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेन्स के कान मे आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष—सबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अँगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई

थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हे एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष मे अभी उपन्यासकारो के जीवन-चरित्र लिखे नही गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमे एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गॉव मे रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क मे पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते है। 'एम० ऍड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट मे लिखा है कि एक दिन एक इञ्जीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासो के चरित्र अपने पड़ोसियो मे मिले। वह घण्टो अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगो को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातो को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियो ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओ मे इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिये या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा; 'मै ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर।'

बहुधा लेखको को पुस्तको से अपनी रचनाओ के लिए अंकुर मिल जाते है। हाल केन का नाम पाठको ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही मे 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते है कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। 'मेटरलिंक' बेल्जियम के जगद्विख्यात नाटककार है। उन्हे बेलजियम का शेक्सपियर कहते है। उनका 'मोनावेना' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटको का मूल स्थान खोज खोजकर कितने ही विद्वानो ने

'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फैजी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम २०,००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता-संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिन पर हजारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण, नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—क़लम उठाया और लिखने लगे; लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक

तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से,—किसी की नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय मे यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत् होती है।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमे नहीं ? कभी इसका सबूत मिलने मे बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवको मे से कौन रत्न है और कौन पाषाण ? वह एक कागज़ के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेद-वार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बंध मे ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है ? उसके कपड़े कैसे है ? कहाँ रहती है ? उसका बाप क्या काम करता है ? जीवन मे उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है ? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नो के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हे अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार मे उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है ; पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखको के लिए एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियो के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी, पर इसकी ज़रूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज़, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक मे दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है

है। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिये। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में रहस्य खुल जाय। लेकिन हरएक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिये जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मज़ा है जब कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब-कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाक़ी न छोड़े। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभि-रुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिये। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करने समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहियें। किसी दृश्य को तुरत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क

से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अङ्कित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने मे अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें 'राम' और 'श्याम' कहेंगे।

राम—गुड ईवर्निंग श्याम, कहो आनन्द तो है ?

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े ?

राम—कहो क्या रङ्ग-ढंग है ? तुम तो भले ईद के चॉद हो गये।

श्याम—मैं तो ईद का चॉद न था, हॉ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ ?

श्याम—हॉ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हे अभिवादन की मोटी-मोटी बाते बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'



उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओ से कही ज़्यादा विस्तृत है। 'वाल्टर बेसेंट' ने इस विषय पर इन शब्दों मे विचार प्रकट किये हैं—

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रो के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वो का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्सास में महान् दार्शनिक तत्त्वो का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप मे कवित्व-शक्ति है तो उपन्यास मे उसके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयो के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग मे नहीं मिल सकता; लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियो में जकड़ देता है। तंग सड़को पर चलनेवालो के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौड़े मार्गहीन मैदान में चलनेवालो के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता।

उसमें और चाहे जितने अभाव हों; पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यो, दशाओ और मनोभावो का चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यो न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना मे सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैली मे बयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रो मे जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तसवीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओ को पढ़कर हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दो का गोरखधन्धा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय मे ग़लत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासो के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते है कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय; किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासो को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये; लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो; इतना ही नहीं, बल्कि उनमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हरएक हिस्से

अलग-अलग हो। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनन्द मे बाधक हो जाता है जो उसे कथा मे आ रहा था। उपन्यास मे वही घटनाएँ, वही विचार, लाना चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं मे लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था; इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। साम्प्रतकालीन उपन्यासो मे लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यो का खोलना होता है; अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास मे उपकथाओं की गुञ्जाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हरएक पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है; लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने मे बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हो। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र मे व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारो पर चोट लगानी चाहिये जिनकी झंकार से पाठको के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावो को जागरित कर दे जो उसके पात्रों मे हो। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागरित नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अंतरतम भाव साधारण दशाओं में आन्दोलित

नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओ की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दे, जो हमारे भावो की गहराई तक पहुँच जायँ। अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यंत के दरबार में आकर खड़ी होती है और राजा उसे न पहचानकर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासो मे गहरे भावो को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावो का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये-दिन की साधारण बातो ही मे उलझकर रह जाते है।

इस विषय मे अभी तक मतभेद है कि उपन्यास मे मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओ का, कमजोरियो और अपकीर्त्तियो का, विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं; मगर इसमे कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयो मे बाँध लेता है वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम मे एक मनुष्य की आंतरिक दशा को, सत् और असत् के संघर्ष और अंत मे सत्य की विजय को, मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार मे मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना, भी कभी-कभी आवश्यक होता है; लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते: बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमे साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुंदर से है, यह हमे न भूलना चाहिये।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासो की जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास मे ऐसा कोई समय न

था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासो की इतनी भरमार रही हो। जासूसी के उपन्यासों में क्यो इतना आनंद आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारी समाज पतन को ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओ का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को संतुष्ट कर सकें—जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासो में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते है, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओ में आनंद नही आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नही हुई, लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गई। अगर मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश मे भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य मे पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावो के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावो से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्टता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते;

बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त—अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़नेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिये, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमे विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत मे भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावो का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासो को देखते है तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं; लेकिन जैसे जो काम वे आदि मे करते, उसी तरह वही अंत में भी करते है।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने मे हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नही है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्—पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हो। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा मे ऐसा नहीं होना चाहिये था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अङ्कित करने मे असफल रहा। चरित्रों मे कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिये। जिस तरह संसार मे कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास मे भी न होना चाहिये। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अंतर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियोंके

अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है। हमारे उपन्यासो मे अक-सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित-समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है,- हाँ भिन्न-भिन्न जातियो की ज़बान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं; लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं; पर ग्रामीण बातचीत कभी-कभी हमे दुविधा मे डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आसपास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावो का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय मे देश की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग मे रँगी हुई नज़र आयेंगी। लहरी आनंदी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हे जगत-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीज़ें लिखा करते है। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना मे आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो, बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिन्दादिल न बना सकेगा। 'आजाद-कथा' को उठा लीजिये, तुरंत मालूम हो जायगा कि लेखक हँसने-हँसानेवाला जीव है जो जीवन को गम्भीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे है, प्रखर हैं,—जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयो में डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर

ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनंद-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठको की रुचि भी अव वदलती जा रही है। अव उन्हे केवल लेखक की कल्पनाओ से संतोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नही ले सकती। भविष्य उन्ही उपन्यासो का है जो अनुभूति पर खड़े हो।

इसका आशय यह है कि भविष्य मे उपन्यास मे कल्पना कम, सत्य अधिक होगा ; हमारे चरित्र कल्पित न होगे, वल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होगे। किसी हद तक तो अव भी ऐसा होता है ; पर वहुधा हम परिस्थितियो का ऐसा क्रम वॉधते है कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते है। हम स्वाभाविकता का स्वॉग जितनी खूबसूरती से भर सके, उतने ही सफल होते है ; लेकिन भविष्य मे पाठक इस स्वॉग से संतुष्ट न होगा।

यो कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-वड़ाई का फैसला उन कठिनाइयो से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हॉ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच वनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य मे सच को झूठ वनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी वड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तव यह काम उससे कठिन होगा जितना अव है ; क्योंकि ऐसे वहुत कम लोग हैं, जिन्हे वहुत-से मनुष्यो को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

सज्जनो, मैं यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा विज्ञान की पोथियो में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह सोलह करोड़ के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियो में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं।-पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमे बहुत कम फर्क है, हाँ, लिखने मे वह फ़र्क़ बढ़ जाता है, मगर उस तरह का फर्क सिर्फ हिन्दी मे ही नहीं, गुजराती, बॅगला और मराठी वगैरह भाषाओ में भी कमोवेश वैसा ही फर्क पाया जाता है। भाषा के विकास मे हमारी संस्कृति की छाप होती है, और जहाँ संस्कृति मे भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे है वह देहली प्रांत की भाषा है, उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों मे बोली जाती हैं और सभी साहित्यिक भाषा रह चुकी हैं। बोली की परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज्यादा प्रसार तो ब्रजभाषा का है क्योंकि वह आगरा प्रांत के बड़े हिस्से में ही नहीं, सारे बुन्देलखण्ड की बोलचाल की भाषा है। अवधी अवध प्रांत की भाषा है। भोजपुरी प्रांत के पूर्वी जिलों मे बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रांत के कई जिलो मे। ब्रजभाषा मे जो साहित्य रचा गया है वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी के प्रमुख ग्रंथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत है। मैथिली में विद्यापति की रचनाएँ ही मशहूर हैं। मगर साहित्य मे आम तौर पर मैथिल का व्यवहार कम हुआ। साहित्य में तो अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों में जहाँ आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध में और काशी मे भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा में ही कहते थे। यहाँ तक कि गया में भी ब्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर ग़ालिब आई, यहाँ तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है, हाँ ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े-से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानो को है। मुसलमानो ही ने दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार मे लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतो मे गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्ही के साथ वह दक्खिन मे पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुजरा। दिल्ली मे बहुत दिनो तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में वह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापूर, गुलबर्गा आदि के दरबारो में इसी भाषा में शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्रायः साहित्यप्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगज़ेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोजनामचे लिखे है। अकबर खुद शिक्षित न हो मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहों मे अफ्सरो ने कविताएँ कीं और कवियो को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब, खिचड़ी-सी थी जिसमें हिन्दी, फारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना ख़ुसरो ने की है जो मुग़लों से भी पहले खिलजी राजकाल मे हुए। ख़ुसरो की कविता का एक नमूना देखिये—

जब यार देखा नैन भर, दिल की गई चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।

जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया, आँसू चले भरलाय कर॥

तूँ तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।

मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा ग़म को दिया,
ग़म ने मुझे ऐसा किया, जैसे पतंगा आग पर ॥

.ख़ुसरो की एक दूसरी ग़ज़ल देखिये—

वह गये वालम, वह गये नदियों किनार,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार।
भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,
हाथ का देऊँगी मुँदरी, गल का देऊँ हार।

मुसलमानी ज़माने में अवश्य ही हिन्दी के तीन रूप होंगे। एक नागरी लिपि में ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रजभाषा। लेकिन हिन्दी-भाषा को मौजूदा सूरत में आते-आते सदियाँ गुज़र गईं। यहाँ तक सन् १८०३ ई० से पहले का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। सदल मिश्र की 'चन्द्रावती' का रचना-काल १८०३ माना जाता है, और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते हैं। इसके बाद लल्लूजी, सैयद इंशा अल्लाह खाँ वग़ैरह के नाम हैं। इस लिहाज से हिन्दी-गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नहीं है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल जिस ज़बान में कोई गद्य-रचना तक न थी आज सारे हिन्दुस्तान की कौमी ज़बान बनी हुई है? और इसमें मुसलमानों का कितना सहयोग है यह हम बता चुके हैं। हमें सन्देह है कि मुसलमानों का सहारा पाये बग़ैर हमको आज यह दरजा हासिल होता।

जिस तरह हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानों की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था। लिपि तो शुरू से ही अलग थी, ज़बान का रूप भी बदलने लगा। मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है। उसका ज़बान पर असर पड़ने लगा। अरबी और फारसी के शब्द उसमें आ-आकर मिलने लगे, यहाँ तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग ज़बानें-सी हो गई हैं। एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी के शब्द भरते

जाते हैं, दूसरी ओर पण्डितगण, संस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूँस रहे है और दोनों भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही है। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती जा रही है लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानो ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत मे उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेगी, उन्हे अपने-अपने ढंग पर, अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाय, उनको मिलाने की ओर इस तरह उन दोनो की प्रगति को रोकने की कोशिश न की जाय ? या ऐसा सम्भव है कि दोनो भाषाओं को इतना समीप लाया जाय कि उनमे लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी है जिनका खयाल है कि दोनो भाषाओं मे एकता लाई जा सकती है, और इस बढ़ते हुए फर्क को रोका जा सकता है, लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज़ है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामो का व्यवहार नही करते, क्योंकि दो नामो का व्यवहार उनके भेद को और मज़बूत करता है। यह लोग दोनो को एक नाम से पुकारते है और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहाँ तक मुमकिन्न हो लिखी जानेवाली जबान और बोलचाल की जबान की सूरत एक हो, और वह थोड़े से पढ़े-लिखे आदमियो की जबान न रहकर सारी कौम की जबान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फ़ायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहाँ पढ़े-लिखो को जो एक जमाअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका सम्बन्ध जो दूर होता जा रहा है वह दूरी मिट जाय और पढ़े-बे-पढ़े सब अपने को एक जान, एक दिल समझें, और क़ौम मे ताकत आवे। चूँकि उर्दू ज़बान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हज़ारों फ़ारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल-मिल गये हैं कि बज़ देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दो को अलग करके हिन्दी मे विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे ज़बान और

क़ौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अँगरेज़ी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गये उनको चुन-चुनकर निकालने और उनकी जगह ख़ालिस फारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज़ के लायक समझते हैं। दोनो तरफ से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-अलग होता जा रहा है, और उसे इसकी ख़बर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावो और विचारो को अदा करती है। ऐसी ज़बान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग ही हो, मसनई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैग़ाम पहुँचाने की, उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हो जिसमे कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी बन्द हो। क्या उस पानी मे वह मजा, वह सेहत देनेवाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा में होती है ? कौम की ज़बान वह है जिसे कौम समझे, जिसमें कौम की आत्मा हो, जिसमे कौम के जज़बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज की जबान ही कौम की जबान है तो क्यो न हम अंग्रेज़ी को क़ौम की जबान कहें ? क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफी से अंग्रेज़ी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अंग्रेजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ्तरो मे और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनो, बरसो जरूरत नहीं होती। ख़ानसामां और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अंग्रेजी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की जिन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बलंदी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। Intelligentsia में जो

कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, खादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।

बेशक, यह बड़ा जोरदार जवाब है कि जनता में शिक्षा इतनी कम है, समझने की ताकत इतनी कम कि अगर हम उसे ज़ेहन में रखकर कुछ बोलना या लिखना चाहे, तो हमे लिखना और बोलना बन्द करना पड़ेगा। यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढ़ने और गहन विषयों के समझने की ताकत अपने मे लाये। लेखक का काम तो अच्छी-से-अच्छी भाषा मे ऊँचे-से-ऊँचे विचारो का प्रकट करना है। अगर जनता का शब्दकोष सौ-दो-सौ निहायत मामूली रोजमर्रा के काम के शब्दो के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे जनता के लिए वह कठिन ही होगी। इस विषय मे हम इतनी अर्ज करेंगे कि जनता को इस मानसिक दशा मे छोड़ने की जिम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है। हममे जिनके पास इल्म है, और फुरसत है, यह उनका फर्ज था कि अपनी तकरीरो से जनता में जागृति पैदा करते, जनता में ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखते और सफरी कुतुबखाने कायम करते। हममे जिन्हे मकदरत है वह मदरसे खोलने के लिए लाखो रुपए खैरात करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि कौम को ऐसे मुहसिनो को धन्यवाद न देना चाहिये, मगर क्या ऐसी संस्थाएँ न खुल सकती थीं और क्या उनसे कौम का कुछ कम उपकार होता जो भाषणो और पुस्तको से जनता में साहित्य और विज्ञान का प्रचार करतीं और उनको सभ्यता की ऊँची सतह पर लातीं? आर्यसमाज ने जिस तरह के विषयों का जनता में प्रचार किया है उन विषयों को साधारण पढ़ा-लिखा आर्यसमाजी भी खूब समझता है। अदालती मामलों को, या मुक्ति और आवागमन जैसे गम्भीर विषयों को गाँव

के किसान भी अगर ज्यादा नहीं समझते, तो साधारण पढ़े-लिखो के बराबर तो समझ ही लेते हैं। इसी तरह अन्य विषयो की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमे यह शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारो को समझ नहीं सकती। मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है ? हमने केवल उसे दुधार गाय समझा है। वह हमारे लिए अदालतो मे मुकदमे लाती रहे, हमारे कारख़ानो की बनी हुई चीज़े ख़रीदती रहे। इनके सिवा हमने उससे कोई प्रयोजन नहीं रखा, जिसका नतीजा यह है कि आज जनता को अंग्रेजो पर जितना विश्वास है उतना अपने पढ़े-लिखे भाइयो पर नहीं।

संयुक्त-प्रान्त के साबिक़ से पहले के गवर्नर सर विलियम मेरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी-उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान मे रखने की आज भी उतनी ही ज़रूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज्यादा। आपने फरमाया, क्या हिन्दी के लेखको को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिये कि उनके पाठक मुसलमान है ? इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह ख़याल रखना चाहिए कि उनके क़ारी हिन्दू है।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गॉठ बॉध लें, तो जबान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमायें अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू-लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्तप्रांत की कॉमन लैंग्वेज रीडरो को देखिये। आप सहल किस्म की उर्दू पायेंगे। हिन्दी की अदबी किताबों मे भी अरबी और फ़ारसी के सैंकड़ो शब्द धड़ल्ले से लाये जाते हैं, मगर उर्दू-साहित्य मे फारसीयत की तरफ ही ज्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है, और न रखना चाहते है। शायद हिन्दी मे थोड़ी सी वाक़फ़ियत हासिल कर लेना भी वह कसरे-शान समझते हैं, हालाँकि हिन्दी वह चीज़ है, जो एक हफ्ते में आ जाती है। जब तक दोनों भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी ज़बान की गाड़ी जहाँ आकर रुक गई है उससे आगे न बढ़

सकेगी। और यह सारी करामात फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही ज़बान के दो रूप मान लिये। इसमे भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनो ज़बानो में काफी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते, लेकिन जिन हाथो ने यहाँ की जवान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी क़ौमी जिन्दगी के दो टुकड़े कर दिये। अपने हिन्दू दोस्तो से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शव्दो ने जन-साधारण मे अपनी जगह बना ली है, और उन्हे लोग आपके मुँह या कलम से निकलते ही समझ जाते है, उनके लिए संस्कृत-कोप की मदद लेने की जरूरत नहीं। 'मौजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा' के लिए 'संकल्प', वनावटी के लिए 'कृत्रिम' शव्दो को काम मे लाने की कोई खास जरूरत नहीं। प्रचलित शव्दो को उनके शुद्ध रूप मे लिखने का रिवाज भी भापा को अकारण ही कठिन वना देता है। खेत को क्षेत्र, वरस का वर्प, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुँह और जीभ के लिए ऐसी कसतर का सामान रख देते है जिसे ९० फी सदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुशकिल को दूर करने और भापा को सुवोध वनाने के लिए कवियो ने व्रजभापा और अवधी मे शव्दो के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता मे अव भी उन शव्दो का पुराना विगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन मे पड़े हुए हैं।

मगर सवाल यह है, क्या इस हिन्दुस्तानी मे क्लासिकल भापाओं के शव्द लिये ही न जायँ? नहीं, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोट देना होगा। आज साएंस की नई-नई शाखें निकलती जा रही हैं और नित नये-नये शव्द हमारे सामने आ रहे है, जिन्हे जनता तक पहुँचाने के लिए हमे संस्कृत या फारसी की मदद लेनी पड़ती है! क़िस्से-कहानियों मे तो आप हिन्दुस्तानी जवान का व्यवहार कर सकते हैं, वह भी जव आप गद्य-काव्य न लिख रहे हो; मगर आलोचना या तनक़ीद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन और अनेक साएंस के विपयो में क्लासिकल भापाओं से मदद लिये वगैर काम नहीं चल सकता। तो क्या संस्कृत और

अरबी या फारसी से अलग-अलग शब्द बनाये जायँ? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहाँ आई? फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। जरूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह संस्कृत से लिया जाय, या फारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी में कोई शब्द अभी तक नहीं बन सका। आम तौर पर 'स्त्री-पुरुष सम्बन्धी' इतना बड़ा शब्द उस भाव को जाहिर करने के लिए काम मे लाया जा रहा है। उर्दू मे 'जिन्स' का इस्तेमाल होता है। जिसी, जिंसियत, आदि शब्द भी उसी से निकले हैं। कई लेखको ने हिन्दी मे भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। लेकिन यह मसला आसान नहीं है। अगर हम इसे मान लें कि हिन्दुस्तान के लिए एक क़ौमी जबान की जरूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमे उसके लिए तपस्या करनी पड़ेगी। हमे ऐसी सभाएँ खोलनी पड़ेंगी जहाँ लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयो पर, या उसकी प्रवृत्तियो पर आपस में ख़यालात का तबादला कर सकें। दिलो की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस के हेल-मेल से उस दूरी को दूर करना होगा। राजनीति के पण्डितो ने कौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है वह आप और हम सभी जानते हैं। अभी तक साहित्य के सेवको ने भी किसी-न-किसी रूप मे राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों को अपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्यम, शिवं, सुंदरं के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा। सियासियात ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें। उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है। साहित्य धर्म को फिर्कावन्दी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को सम्प्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की मानना और

फज़ीलत इसमे है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता (इन्सानियत) का कितना ऊँचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहाँ कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालो के लिए है, और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं सभी ग़ैर हैं, और उन्हे जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्यादा पसन्द करूँगा। धर्म नाम है उस रोशनी का जो क़तरे को समुद्र मे मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी ज़ात को इमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्मा में, मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है। और चूँकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं है, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंजिल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते है। इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का जहूर हुआ है। यह साहित्य-सेवियो का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जाग्रति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पण्डितों ने हमे ग़लत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाज़मी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू से और मुसलमानो को हिन्दी मे काफी महारत हो जायगी, और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और संदेह है वह दूर हो जायगा। चूँकि इस वक्त भी तालीम का सीग़ा हमारे मिनिस्टरों के हाथ मे है और करिकुलम मे इस तब्दीली से कोई ज़ायद ख़र्च न होगा, इसलिए अगर दोनो भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने मे कोई इन्कार न हो सकेगा। मै यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि इस तजवीज़ मे हिन्दी या उर्दू किसी से भी पक्षपात नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क मे ऐसी फिज़ा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करें जिससे हम जिन्दगी के हरेक पहलू में दिन-दिन आगे बढ़ें। साहित्यकार पैदाइश से सौन्दर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हरेक

अङ्ग में, ज़िन्दगी के हरेक शोबे में, हुस्न का जिल्वा देखना चाहता है। जहाँ सामञ्जस्य या हम-आहँगी है वही सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हक़ीकत है। जिन तत्त्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव में हमारी आत्मा की वाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ बेअख्तियार दौड़ती है। हुस्न में उनके लिए न रुकनेवाली कशिश है। और क्या यह कहने की जरूरत है कि नेफाक और हसद, और सन्देह और संघर्ष यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुंदर कैसे हो सकते है? साहित्य ने हमेशा इन विकारों के खिलाफ आवाज उठाई है। दुनिया में मानवजाति के कल्याण के जितने आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के लिए साहित्य ने ही जमीन तैयार की है, जमीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोये और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलनेवाली चीज नहीं, उसके आगे आगे चलनेवाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की जबान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देनेवाले शब्दों में वे जाहिर नहीं कर सकते। साहित्य का स्रष्टा उन चोटों को हमारे दिलों पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनकी तीव्रता को सौगुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुर्य दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी ही रचनाओं से हम में बनती है। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे

में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता मे डूबी हुई कथाएँ लिखकर, कामुकता को भड़काये, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज हो, उस प्रेम मे नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, वल्कि उस प्रेम का जिससे शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अव इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर

अब तो हमें डा० इकबाल का शंखनाद चाहिये—

व शाखे जिन्दगिये मा नमीजे तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवॉ दलीले वे तलबीस्त। १
ता कुजा दर तहे वाले दिगरॉ मी बाशी,
दर हवाये चमन आज़ाद परीदन् आमोज। २
दर जहॉ वालो व परे ख़ेश कुशूदन आमोज,
कि परीदन् नतवॉ वा परो वालेदिगरॉ। ३

(१) मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफी है। अमृतकुंड की खोज मे भटकना आकांक्षा के अभाव का प्रमाण है।

(२) दूसरो के डैनो का आश्रय तुम कब तक लोगे ? चमन की हवा मे आज़ाद होकर उड़ना सीखो।

(३) दुनिया मे अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरो के डैने-पंखे के सहारे उड़ना सम्भव नहीं है।

जब हिन्दुस्तानी कौमी जवान है, क्योंकि किसी न किसी रूप में यह पन्द्रह-सोलह करोड़ आदमियो की भाषा है, तो यह भी ज़रूरी है कि हिन्दुस्तानी जवान मे ही हमे भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढ़ने को मिलें। आप जानते है हिन्दुस्तान में वारह उन्नत भाषाएँ हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यो मे जो कुछ संग्रह करने लायक है वह हमे हिन्दुस्तानी जवान मे ही मिलना चाहिये। किसी भाषा में भी जो-जो अमर साहित्य है वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। मगर

अभी तक उन साहित्यों के द्वार हमारे लिए बन्द थे, क्योंकि हिन्दुस्तान की बारहो भाषाओं का ज्ञान बिरले ही किसी को होगा। राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिनकी एक विद्या, एक तहज़ीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते हैं कि हिन्दुस्तान सच्चे मानी में एक क़ौम बने। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि भेद पैदा करनेवाले कारणों को मिटायें और मेल पैदा करनेवाले कारणों को संगठित करें। क़ौम की भावना यूरप में भी दो-ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नहीं। हिन्दुस्तान में तो यह भावना अंग्रेजी राज के विस्तार के साथ ही आई है। इस ग़ुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हममें क़ौमियत की भावना को जन्म दिया। इस ख़ुदादाद मौक़े से फ़ायदा उठाकर हमें क़ौमियत के अटूट रिश्ते में बँध जाना है। भाषा और साहित्य का भेद ही ख़ास तौर से हमें भिन्न-भिन्न प्रांतीय जत्थों में बाँटे हुए है। अगर हम उन अलग करनेवाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय संस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो क़ौमियत की सबसे मजबूत भावना है। यही मक़सद सामने रखकर हमने 'हंस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है जिसमें हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी से अच्छी चीज़ें देने की कोशिश करते हैं। इसी मक़सद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान की क़ौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजवीज़ की है, और परिषद् का पहला जलसा २३, २४* को नागपूर में महात्मा गांधी की सदारत में क़रार पाया है। हम कोशिश कर रहे हैं कि परिषद् में सभी सूबे के साहित्यकार आयें और आपस में ख़यालात का तबादला करके इस तजवीज़ को ऐसी सूरत दें जिससे वह अपना मक़सद पूरा कर सके। चन्द सूबों में अभी से प्रांतीयता के जज़बात पैदा होने लगे हैं। 'सूबा सूबेवालों के लिए' की सदाएँ उठने लगी हैं। हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए की सदा इस प्रांतीयता की चीख पुकार में कहीं गुम न जाय, इसका

* २३, २४ अप्रैल, १९३६।

अंदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बंगाल के लिए, पंजाब पंजाब के लिए की हवा ने ज़ोर पकड़ा तो वह कौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और ज़िल्लत से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजो का समूह होकर रह जायगा और फिर क़यामत के पहले उसे पराधीनता की कैद से नजात न होगी। हमे अफसोस तो यह है कि इस किस्म की सदाएँ उन दिशाओ से आ रही है जहाँ से हमें एकता की दिल बढ़ानेवाली सदाओ की उम्मीद थी। डेढ़ सौ साल की गुलामी ने कुछ-कुछ हमारी आँखें खोलनी शुरू की थी कि फिर वही प्रांतीयता की आवाजे पैदा होने लगीं। और इस नई व्यवस्था ने उन भेद-भावो के फलने-फूलने के लिए जमीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल अटानोमी' ने यह सूरत अख्तियार की तो वह हिन्दुस्तानी क़ौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और वह तफ़रीक जाकर रुकेगी कहाँ? उसकी तो कोई इति ही नहीं। सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सकसेना सकसेना के लिए; इतनी दीवारो और कोठरियों के अन्दर क़ौमियत कै दिन साँस ले सकेगी! हम देखते है कि ऐतिहासिक परम्परा प्रांतीयता की ओर है। आज जो अलग-अलग सूबे है किसी जमाने में अलग-अलग राज थे, क़ुदरती हदे भी उन्हे दूसरे सूबो से अलग किये हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक है। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को क़ायम न रख सके इसका सबब यही तो है कि उन्होने अपने को अपने किले मे बन्द कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेंगे तो फिर शायद तारीख़ अपने को दोहराये। हमे तारीख़ से यही सबक न लेना चाहिये कि हम क्या थे। यह भी देखना चाहिये कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमे तारीख़ को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्यों से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो

जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे ? और चूँकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमें भाषा ही के द्वार से प्रांतीयता की काया में राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रांतीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी जमीन को .खूब जोतें, उसमें .खूब खाद डालें और अच्छी से अच्छी फ़सल पैदा करें। मगर उसका यह आशय हर्गिज़ न होना चाहिये कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमें न डालें। प्रांतीयता अगर अयोग्यता को कायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रांत का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। इस नये खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करनेवाली शक्तियों को संगठित करने ही से हो सकता है।

सज्जनो, साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है। साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ़ जो की गई है वह यह है कि वह अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग़ के अच्छे से अच्छे भावों और विचारों का संग्रह है। आपने अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रों के साथ आपने उससे कहीं ज्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप किसी यहाँ के साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इंसानी सूरत देखते हैं, जिसमें वही वेदनाएँ हैं, वही प्रेम है, वही कमज़ोरियाँ हैं जो हममें और आपमें हैं। वहाँ वह हुकूमत और .गुरूर का पुतला नहीं, बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिसके साथ हम दुखी होते हैं, हँसते हैं, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पायें। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। क्या यह अंधेर की बात नहीं है कि हम दोनों, जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर

है ? यूरोपियन विद्वानो को देखिए। उन्होने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हरेक मुमकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तकें लिखी है, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही मे मग्न है। साहित्य मे जो सबसे बड़ी खूबी है वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममे सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला की मारके की तारीख पढ़ी है, यह असम्भव है कि उसे मुसलमानो से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ा है, उसके दिल मे हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम-से-कम उत्तरी हिन्दुस्तान मे हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिये, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओ के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित है। हम दोनो ही के लिए दोनो लिपियो का और दोनो भाषाओ का ज्ञान लाज़मी है। और जब हम जिन्दगी के पंद्रह साल अँगरेजी हासिल करने मे कुरबान करते है तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने मे नहीं लगा सकते जिस पर हमारी क़ौमी तरक्की ही नहीं कौमी जिन्दगी का दारमदार है ?

---

१ आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर मे दिया गया भाषण।

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन-पर्यंत आनंद ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में; लेकिन साहित्य का आनंद, इस आनंद से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है, उसी आनंद को दर्साना, वही आनंद उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्सता की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि

उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हरएक रस मे सुन्दर खोजता है—राजा के महल मे, रंक की झोपड़ी मे, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालो के अंदर ऊषा की लाली मे, स्रावन-भादो की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी मे जितनी आसानी से सुंदर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलो में नहीं। महलों मे तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप से है, वही आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध, अतएव हमारा विचार है, कि साहित्य मे केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य मे की जा सकती है, जो शृंगार-विहीन और अ-सुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावो को जगाना हो, जो केवल वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमे सुंदर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टो का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव है, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आतमा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का सम्बंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनंद का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बंध विचार से है, प्रयोजन का सम्बंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का सम्बंध मनोभावो से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरो से देख सकते हैं। हिम मे ढके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए

अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की ! विह्वलता एक प्रकार का आत्म समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचंद्र शबरी के जूठे बेर क्यो प्रेम से खाते है, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनो से रुचिकर समझते है, इसी लिए कि उन्होने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमे समस्त जगत के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा, जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके है।

आइये देखें, जीवन क्या है ? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव जीवन मे भी यह सब प्रवृत्तियाँ होती है; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती है, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल मे बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती है, जो इस मेल मे सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती है, जिनसे सामंजस्य मे बाधा उत्पन्न होती है वे दूषित हैं। अहङ्कार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेंगी इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं, उन्हें ऐसा

उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियो को जगाता है। सत्य को रसो-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नही कर सकते, उसी भाँति, जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चो को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है। यही कारण है, कि हमे उपनिषदो और अन्य-धर्म-ग्रन्थो के साहित्य की सहायता लेते देखते है। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु है। बौद्धो की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, इञ्जील ये सभी मानवी कथाओ के संग्रह-मात्र है। उन्ही कथाओ पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर है। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा है। उन कथाओ को निकाल दीजिये, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तको ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओ का आश्रय लिया? नहीं, उन्हों ने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है।

हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार मे आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्‌गार को जानते हैं। उसका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है, कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो, कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं,

पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होती। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय मे थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया ; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है ; क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास मे नहीं हो सकता। घटनाओ की तालिका इतिहास नहीं है ; और न राजाओ की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन मे साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन मे सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ, पर असुंदर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें ; पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलो पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली मे कतलाम करानेवाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने मे कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम को बंद करने का हुक्म दिया था ? दिल्ली के बादशाह का वज़ीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्लीवालो के खून की नदी बहती चली

जाती है, यहाँ तक कि .खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मॉद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को ज़िन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हे मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द कर दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यो समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखो में आँसू छल-छला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इङ्गलैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपञ्च, या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं

जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी युरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं; पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है: पर वह इतनी दूर जा चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है. जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते है। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान दायित्व जिस वस्तु पर है, उनके निर्माताओं का पद

कुछ कम ज़िम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते है। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की ज़रूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मज़ेदार, चटपटी और ओज-पूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर स्थायी-साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है; क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा ज़रूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिये। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर

आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अङ्ग है। श्रीमती ख़लीदा अदीब ख़ानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो, परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासन काल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत थोड़े दिनों से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ था। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अङ्गों और तत्त्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष में अंगरेज़ी राज्य उठ जाय तो इन तत्त्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण

कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेज़ों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मण्डल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आज-कल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उसमें तो राष्ट्रीय-भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय-रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनसे खींचा-तानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मत-भेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव

बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग मे बोली जाती है ; लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिज्ञ उसे टाट बाहर कर देते है। वास्तव में उर्दू और हिंदी की उन्नति मे जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते ; बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश मे भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नही हुआ करती। जो अंग्रेज़ी हम किताबो और अखबारो में पढ़ते है, वह कहीं बोली नही जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा मे बातचीत नहीं करते, जिस भाषा मे ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते है। और जन-साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यहीं बात हम हिन्दुस्तान मे भी चाहते हैं।

परंतु आज क्या परिस्थिति है ? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओ के शब्दो को हिन्दी मे किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हे 'मनुष्य' से तो प्रेम है, परंतु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण मे भली-भाँति प्रचलित है ; परंतु फिर भी उनके यहाँ इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना' पत्र ही लिखना चाहते है, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिलकुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर वे 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना ही सुबोध क्यों न हो, परंतु उन्हें 'वायु यान' की सैर ही पसन्द है। उर्दूवाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'ख़ुदा' को तो मानते हैं, परंतु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परंतु 'अपराध' कभी

नहीं कर सकते। 'ख़िदमत' तो उन्हे बहुत पसंद है, परंतु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगो ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिए हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले मे उर्दू मे कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनो मे मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमे दोनो एक दूसरे के घर विना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें; और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नही, वलिक घर के आदमी की तरह। 'गारसन डि टासी' के शब्दो मे उर्दू और हिन्दी के वीच मे कोई ऐसी विभाजक रेखा नही खींची जा सकती जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अंग्रेज़ी भाषा के भी अनेक रंग है। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दो की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लो-सैक्सन शब्दो की। परंतु है दोनो ही अंग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दो के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय-राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते है और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें जो कोई नई भाषा नहीं है; वलिक उर्दू और हिंदी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त-प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलो मे चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती है। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा मे कोई अन्तर नहीं होता। इसमें शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियो मे वचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दो से भली-भाँति परिचित हो जायेंगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमे दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई है कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी

साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरो के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दर्जो के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़नेवाले लड़को के पास फारसी और अरबी शब्दो का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नही है ?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते है कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओ के पास पहुँच जाती है। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं; लिखावट मे साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि, आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती है। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबो का विद्या-सम्बन्धी भांडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली मे गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यो न इन दोनो को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हे आपस मे मिलाकर क्यो दोनों के रास्तो मे रुकावटें पैदा की जायॅ ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान मे कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमे आवश्यक है कि जहॉ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप

पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणत हो जाय।

हिन्दुस्तान के हर एक सूबे मे मुसलमानो की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त प्रान्त के सिवा और-और सूबो मे मुसलमानो ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बँगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मदरास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन मे उसे उर्दू की बिल्कुल आवश्यकता नही पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबो के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपना भी बना सकते है कि हिन्दुओ और मुसलमानो की भाषा मे नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यो हिन्दी से इतनी घृणा करते है? हमारे सूबे के देहातो मे रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियो की भाषा ही बोलते है। जो बहुत-से मुसलमान देहातो से आकर शहरो में आबाद हो गये है, वे भी अपने घरो मे देहाती जबान ही बोलते हैं। बोल-चाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानो को ही कोई कठिनता होती है और न बोल-चाल की उर्दू समझने मे साधारण हिन्दुओं को ही। बोल चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही है। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तको और समाचार-पत्रो मे व्यवहृत होते है और कभी-कभी पण्डितो के भाषणो में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होगे। क्या उर्दू के वर्त्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषो में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाये जा सकते? और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते? क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंगरेजी के

असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्त्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते। उर्दू और हिन्दी भाषाओ मे न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दो की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।[1]

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से और या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली है। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देव-नागरी से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओ की लिपियाँ बिल्कुल भिन्न है, परन्तु फिर भी उनमे संस्कृत शब्दो की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रांतीय भाषाओ मे कुछ न कुछ मिलते है। परंतु, उनमे संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती जितनी हिन्दी मे होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष मे ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमे संस्कृत के शब्द अधिक हो। दूसरे प्रांतो के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज मे समझ सकते है; परंतु फारसी और अरबी के शब्दो से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त प्रांत और पंजाब के नगरो और कस्बो तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरो के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं, लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होगे। ऐसी अवस्था मे क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू मे कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष मे बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो; बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी

भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है; परंतु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये है। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमे संस्कृत, अरबी और फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कही खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में किस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परंतु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमे नही लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दो से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दो की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भाण्डारो से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाये गये हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमे बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ मे तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कही अच्छा यह होगा कि अँगरेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दो मे कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँगरेजी में ही प्रचलित नहीं हैं; बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं मे उनसे मिलते-

जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियो ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। और भिश्र में थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते है, तो फिर पारिभाषिक शब्दो को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बॅगला, मराठी, गुजराती और कन्नडी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकता हैं। उर्दू भी अरबी और फारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचालेत अंगरेजी पारिभाषिक शब्दो से भी कही अधिक अपरिचित होगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू-दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म शास्त्र आदि मे से हम प्रचलित अरबी-पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याऍ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभापिक शब्द लेकर आई हैं, यदि उन्हे भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान-दण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अंगरेजी टोपी बेजोड और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखाई देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेप स्तम्भ हैं; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भापा का मुख्य गुण उसकी सरसता ही नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरसता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी गम्भीर

भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिये। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नीव डाली जा रही है, तब क्यो न हम साहित्यिक संसार मे भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें जिसमे हर एक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल मे एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें ? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यो सौ वर्ष पहले के विचारो और दृष्टिकोणो पर अड़े रहे ? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त मे प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम मे ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ ज़बानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाए और मुँड़िया हिलाए' की जो आदत होती है, वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाकत नहीं है, लेकिन इस तरह की गंदुम-नुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ़ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिये—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ!

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसले की बलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग़ हैं, तो वह मुबालग़ा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमाग़ों ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अँग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेज़ी आचार-विचार में भारत

मे अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्र-भाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमाग़ो ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नज़र आते है, और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही है। जिन लोगो ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजो को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेज़ी पत्रो के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहे तो हिन्दी बोलने और लिखने मे हिन्दीवालो को भी मात कर सकते है। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओ के भाषाण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गई है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगो ही के लिखे होते है और उनकी मॅजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममे से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है; जब राष्ट्र-भाषा-प्रेम अभी दिलो के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अंग्रेज़ी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलो मे व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग मे अंग्रेज़ी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सके, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसके घर से ज़्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चो से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसो अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज़ यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते

हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमे इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसकी रोटियो का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना ! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र मे होती है ; अँग्रेज़ी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियो के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर ज़मीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अव कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीव नहीं। मज़ा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल ज़रा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमे उड़ने की शक्ति नहीं रही, वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नही। अव तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने ग़रीव भाइयों पर रौव जमाने के दिन वड़ी तेजी से विदा होते जा रहे हैं, प्रतिभा का और बुद्धिवल का जो दुरुपयोग हम सदियो से करते आये हैं, जिसके वल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अव वदलती जा रही है। बुद्धि-वल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितनी विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनो तरफ़ से ठोकरें खा रहा है ? स्वामियों की ओर से इसलिए कि वह समझते हैं—मेरी चौखट के सिवा इनके

लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनकी वेष-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग है और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेज़ी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता; लेकिन अब तो इतने दिनो के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यो आज भी उसी से चिमटे हुए है? अभी गत वर्ष एक इंटर-युनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृ-भाषा क्यो न रखा जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यो? इसलिये कि अंग्रेज़ी माध्यम के बग़ैर अंग्रेज़ी मे हमारे बच्चे कच्चे रह जायँगे और अच्छी अंग्रेज़ी लिखने और बोलने मे समर्थ न होगे; मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेज़ी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हे अंग्रेज़ी से बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे ग़लती तो नहीं हो गई! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेज़ी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े-से-बड़े भारती-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज़ से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेज़ी योग्यता पर वहाँ के परीक्षको ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों मे अपने विचारो के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग मे ग़लतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कम-से-कम १२ साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का

अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानो की राय है। जापान और चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात मे हमसे कोसों आगे हैं ; लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हामरे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहाँ तक व्यापार में उनका संबंध है, उन्होने क़ौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक क़ौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराज़ा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज़ आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गई थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज बिदा हो जाय—और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है—तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर रहना चाहिये। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिये उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र-भाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र-भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप क़ानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे

हैं, आप शासन-मिल के मज़दूर नहीं बना रहे है, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओ को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयो को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए क़दम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों मे हमे साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय मे भी मै आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वहीं है, जो ख़ुदा है, और राष्ट्र भाषा मे दोनो के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगो की काफी तादाद निकल आये, जो ईश्वर को 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, फारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद है, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अङ्ग-भङ्ग करके उसका काया-कल्प करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हे रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास मे बाधक होगी। पृथ्वी को सीधा

और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानो का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार मे न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तको पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखना मुश्किल होगा; मगर विद्वानो का भी अजीब दिमाग़ है। प्रयाग में विद्वानो और पण्डितो की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' मे तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दो पर बरसो से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नही हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा-सुन्दरी को कोठरी मे बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमे ऐसे ग्रामीण शब्दो को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये, कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें; अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह ग़लत है, कि फ़ारसी शब्दो से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनका अर्थ निकलना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है, इसमें कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया-डाह है यह मेरी समझ मे नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिये। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज़ के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता

में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने मे हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओ से कम इच्छुक नहीं है। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानो से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टर-पन्थियो से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुस्लिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसरों और अन्य विषयो के प्रोफेसरो से मेरी जो बात-चीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेज़ार है, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार है। मैं यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानो का एक गिरोह हिन्दुओ से अलग रहने मे ही अपना हित समझता है—हालाँकि उस गिरोह का ज़ोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यो झगड़ा करे? क्या आप समझते है, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता मे भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानो में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालो के लिए वहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तो से भी मुझे कुछ अर्ज़ करने का हक़ है; क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मै जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप हिन्दी को क्यो गरदनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है, तो होना चाहिये, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियो पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पाँच सौ मुसलमान शायरो ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी

के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर और जहाँगीर और औरङ्गज़ेब तक हिन्दी कविता का शौक रखते थे और औरङ्गज़ेब ने ही आमो के नाम 'रसना-विलास' और 'सुधारस' रखे थे? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज़ जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी मे तबाआज़माई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी मे हजारो शब्द, हजारो क्रियाएँ अरबी और फारसी से आई हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गई हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते है। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ है? हिन्दुओ को 'खराब' भी अच्छा लगता है, और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यो बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यो शत्रु-सा दीखे? हमारी क़ौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक, जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मज़ा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानो का दिया हुआ नाम है और अभी ५० साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नज़र नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इङ्गलैण्डवाले इङ्गलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यो न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न काफिये मे आती है, न रदीफ में, न बहर में, न वज़न में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक यहाँ की क़ौमी भाषा उर्दू होगी। क़ौमी भाषा के उपासक नामो से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनो भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता? हमें दोनो ही भाषाओ में एक आम लुगत (कोष)

की ज़रूरत है, जिसमें आमफ़हम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी मे तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह ज़रूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू मे भी होना चाहिये। शायद वह काम क़ौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तो से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफ़हम शब्दो से भी परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी मे आमफ़हम फ़ारसी के शब्द आज़ादी से व्यवहार किये जाते है।

लेकिन, प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रावृत्तान्त, समाचार-पत्रो के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य मे केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो है, जिनको आप राष्ट्र-भाषा मे नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दो मे लिखी जा सकती है। विवेचनात्मक विषयों मे यहाँ तक कि उपन्यास मे भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दो की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमे आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमे यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रो की सम्पन्न भाषाएँ है। यो तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने थक रूप मे भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्र-भाषा लिखने का अनुभव रखते है, उन्हे स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मग़जन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा मे खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते है, खीर मे नमक के डले की भाँति आकर मज़ा किरकिरा कर देते है। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता मे भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफ़हम शब्दो की

संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता मे शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था मे है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमे राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हे देखकर आज हम भयभीत हो जाते है, जब अभ्यास में आ जायँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमे विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र-भाषा की जरूरत के कायल है। उस बोर्ड मे उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओ के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानो तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रो मे जाकर मुसलिम विद्वानो की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की। हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी मे मस्त है। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ़ से आँखें बन्द किये बैठे है। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियो की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन-शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेज़ी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वता के साथ-साथ दूसरो को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अँग्रेज़ीदाँ ही नहीं रहते। हज़ार में ९९९ आदमी

अंग्रेज़ी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग़ विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है ? जब तक आपके पास राष्ट्र-भाषा नहीं, आपका राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज़ शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना ग़फलत दिखाई है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फ़ुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँती में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। ग़ैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे; लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेज़ी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें; लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जायें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे-से-अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी-से-बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ

साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय मे वह बीज पड़ गया है, तो हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहे, तो समय नही। हमारा नया साहित्य अन्य प्रांतीय साहित्यो की भाँति ही अभी सम्पन्न नही है। अगर सभी प्रांतो का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओ से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते है कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियो ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमे शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियो की रचनाएँ देखनी है, तो तुलसी और सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान मे कबीर अपना सानी नही रखता और शृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियो का दोष नहीं, परिस्थितियो का दोष है जिनके अन्दर उन कवियो को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारो के आश्रय से जीती थी और कलाविदो को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियो का भी यही हाल है। यही उस जमाने का [illegible] मारे रईस [illegible]। में मग्न थे, और प्रेम, विरह और [illegible] उन्हे [illegible] था। अगर कही जीवन का नक्श[illegible] कि सं[illegible] है, अनित्य है, [illegible] है [illegible] जल्दी छोड़ दो [illegible] कुछ नहीं। हाँ, [illegible] वह [illegible]

की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गई है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्म-व्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उसपर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है, यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े-से-बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत-से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विलास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद' पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायँगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफ़ीना भी त्रिपाठीजी ने खोदकर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहें शौक से निकाल ले जाइए और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगाई हुई पुष्पवाटियों की सैर कीजिये। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्य-रस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव

समाज में हमेशा ऐसे लोगो की कसरत होती है, जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धो मे लगे रहते है। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य है, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं, कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्ही लड़न्तियो के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियो में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे। आपको अपने सामने कठिनाइयो की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते है। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप मे से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगो को आप मे विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरो में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारको के आदर्श जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथो मे ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे

[दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, २९ दिसम्बर, १९३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण।]

क़ौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

भाषा ही राष्ट्र की बुनियाद है

बहनो और भाइयो,

किसी क़ौम के जीवन, और उसकी तरक्क़ी मे भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते है और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानो की तौहीन करना है। यह दो पैरोवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यो तो सभी जीवधारियो की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हॉ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारो से ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते है। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बग़ैर किसी समाज का ख़याल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवो मे एक विशेष आत्मा का विकास करती है, जो प्राणियो की शक्ल-सूरत, व्यवहार-विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यो कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शकल-सूरत हमारे रंग-रूप ही की भाँति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक एक अक्षर मे हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यो-ज्यो हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि मे जो लोग इशारो मे बात करते थे, फिर अक्षरो में अपने भाव

प्रकट करने लगे, वही लोग फिलॉसफी लिखते और शायरी करते है, और जब ज़माना बदल जाता है और हम उस जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सो मे आबाद हो जाते हैं, हमारा रङ्ग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियो तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमज़बान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य मे मेल-मिलाव के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर मे कमजोर पड सकते हैं और अक्सर टूट जाते है, लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवा नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

क़ौमी भाषा की ओर हमारी उदासीनता

लेकिन आदि मे मनुष्यो के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती है। अगर ग़ौर से देखिये, तो २०-२५ कोस के अन्दर ही भाषाओ में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झाँसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अन्तर है; लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर मे जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा मे साफ-साफ फर्क नज़र आता है। सिर्फ प्रयाग मे कम-से-कम दस तरह की भाषाएँ बोली जाती है, लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा मे जा मिलती और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही मे ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ है, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओ के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमे मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गई हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है, लेकिन

हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गई है, जो सारे हिन्दुस्तान से समझी और बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सके, जिसे हिन्दुस्तान का प्रत्येक पढ़ा या बेपढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें, लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिये बग़ैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रञ्ज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने क़ौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिये, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब-के-सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं। लेकिन, अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं, जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अंग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी क़ौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है। और अगर हमने क़ौमियत की सबसे बड़ी शर्त, यानी कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी क़ौम को जिन्दा रखने के लिए अंग्रेजी की मरकजी हुकूमत का कायम रहना लाज़िम होगा, वरना कोई मिलानेवाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायँगे और प्रान्तीयता ज़ोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोट देगी। और जिस बिखरी हुई दशा में हम अंग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जायँगे।

इस उदासीनता का कारण

इस लापरवाही का खास सबब है—अंग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अंग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अंग्रेजों का साथ

बटाने के लिए हमारा अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी है। इल्म और हुनर और खयालात में जो इनकलाब होते रहते हैं, उनके वाकिफ होने के लिए भी अंग्रेज़ी ज़बान सीखना लाज़िमी हो गया है। ज़ाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अंग्रेज़ी के हाथ में हैं और कोई भी उस खज़ाने को नाचीज़ नहीं समझ सकता। दुनिया की तहज़ीबी या सांस्कृतिक बिरादरी मे मिलने के लिए अंग्रेज़ी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते, लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में कौमी भाषा की ज़रूरत बिल्कुल भूल गये और उस ज़रूरत की याद कौन दिलाता? आपस मे तो अंग्रेज़ी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। कौमी भाषा का स्थान अंग्रेज़ी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अंग्रेज़ी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज़्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेज़ी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते है, लेकिन अंग्रेज़ी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन मे डाले हुए है। अंग्रेज़ी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते है; लेकिन अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का हमारे दिलो पर बैठ गया है, उसके बग़ैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायगा। पुराने समय में आर्य्य और अनार्य्य का भेद था, आज अंग्रेज़ीदाँ और ग़ैर-अंग्रेज़ीदाँ का भेद है। अंग्रेज़ीदाँ आर्य्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियो की कृपा-दृष्टि की बदौलत कुछ अख्त्यार है, रोब है, सम्मान है, ग़ैर-अंग्रेज़ीदाँ अनार्य्य है और उसका काम केवल आर्य्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्य्यवाद बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुना। अगर सौ-दो सौ साल में भी वह सारे भारत मे फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी ज़बान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो हज़ार-दो हज़ार साल में भी उसके

जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखों को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमे एक दीवार खिंच गई है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा मे कुछ तो उसके घमण्ड और दबदबे का असर होना ही चाहिये। हम अँग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अङ्ग भूलकर हाकिम जाति का अङ्ग समझने लगते हैं, कुछ वही ग़रूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनी दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतो मे कसदन, और थोड़े आदमियो में बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गई है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा-बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नई उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज़ कर दिया है, उसमे बेहद उदारता आ गई है, छूतछात ने सोलहो आना नफरत हो गई है, वह अँग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा : लेकिन जनता उसकी उदारता मे स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेजी साहबों से उसे कोई ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फ़रियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अँग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाय, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी खयाल भी न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुञ्जायश नहीं है। ठोकरें-पर-ठोकरें मिलती हैं, तब वह कल्ला देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका ज़ोर लेकर अँग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। कांग्रेस को जो थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा मे अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान मे उस वक्त

करीब २४-२५ करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुःख की बात नहीं कि वे, जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ी-सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा बन सकती है ? लेकिन अँग्रेज़ी के चुने हुए शब्दों और महाविरों और मँजी हुई भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी क़ौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अँग्रेज़ी मे होती है, अँग्रेज़ी मे भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं सारी लिखा-पढ़ी अँग्रेज़ी में होती है, उस संस्था मे भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्रवाई अँग्रेज़ी मे करते हैं। जब हमारी कौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और युनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें ? मगर १०० वर्ष तक अँग्रेज़ी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अँग्रेज़ी मे आदर हो। हम अँग्रेज़ी भाषा को खैरात खाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पाँव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गई है, जैसी अक्सर भिखमंगों की होती है जो इतने आराम-तलब हो जाते हैं कि मज़दूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता क़ौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। उसका अंग्रेजी न जानना, कौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अंग्रेजी में बोलते और लिखते देखती है, तो कौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमें जोर का धका लगता है, उसे कुछ ऐसा खयाल होने लगता है कि क़ौमी भाषा कोई जरूरी चीज़ नहीं है। जब उनके नेता, जिन्हें

कदमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, क़ौमी भाषा को हक़ीर समझें—सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से उसकी तारीफ़ कर दिया करें—तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह कौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जायगी, उसे बेवकूफ़ समझना है। और जनता को आप जो चाहे इल्ज़ाम दे लें, वह बेवकूफ़ नहीं है। आपने समझदारी का जो तराज़ू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरे, लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। कौमी भाषा के प्रचार का एक बहुत बड़ा जरिया हमारे अखबार हैं; लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही ख़र्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अख़बार ख़रीदने और पढ़ने में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अंग्रेजी में बोलें, हमें कोई एतराज नहीं, लेकिन अपने ही भाइयों के ख़यालात तक पहुँचने के लिए हमें अंग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालत भारत जैसे ग़ुलाम देश के सिवा और कहीं नजर नहीं आ सकती। और ज़बान की ग़ुलामी ही असली ग़ुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्मराँ जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नई भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती, हालाँकि लक्षण सब वही हैं।

कौमी भाषा का रूप

सवाल यह होता है कि जिस क़ौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी

कोई ख़ास सूरत नहीं बना सके है, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेजी के पुजारी थे और है ; मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी ऐसी भाषा है, जिसे यह दर्जा हासिल है। इसे उर्दू या हिन्दी का अलग-अलग नाम न देकर मैं हिन्दुस्तानी कहता हूँ, क्योंकि मेरे ख़याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक ज़बान है। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फ़ाइल, जब एक है, तो उनके एक होने मे कोई सन्देह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमे फारसी अरबी के लफ्ज ज्यादा हो, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हो, लेकिन जिस तरह अंग्रेजी मे चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हो या एंग्लोसेक्सन, दोनो ही अंग्रेजी हैं, उसी भॉति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओ के शब्दो के मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बात-चीत मे तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही है। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते है, जिनसे जनता का सम्बन्ध है। मैं यहॉ एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूँ—

'एक जमाना था, जब देहातो मे चरखा और चक्की के बग़ैर कोई घर ख़ाली न था। चक्की चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मज़बूत और जफ़ाकश होते थे ; मगर अब तो अंग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरो मे ही नहीं देहातों में भी काया पलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गॉवों मे चक्की न रही, तो चक्की पर गीत कौन गाये ? जो बहुत ग़रीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते है। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती है।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझनेवाले आदमी को ज़रा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का एक दूसरा पैरा देता हूँ—

'उसकी वफा का जज़बा सिर्फ जिन्दा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी .खुद को .कुरबान कर देती थी। अगर मौत का जालिम हाथ उसके रफीक़ हयात को छीन लेता था, तो वह बाकी जिन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का खयाल भी उसके वफापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें—'वह सिर्फ जिन्दा आदमियों के साथ वफा न करती थी' और 'वफ़ापरस्त' की जगह 'प्रेमी', 'रफीक़ हयात' की जगह 'बीबी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जायगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्कत न होगी। अब मैं एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नक़ल करता हूँ—

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी का बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी था, लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जन-गणना देखने से मालूम हो रहा है कि जन-संख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उनके लिए सुख और विलास की नई-नई सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें 'प्रयोग', 'आविष्कार', 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलनेवालों की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम क़ौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह

भी ज्यादा नहीं। एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिये—

'अपने साथ रहनेवाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज़-रोज़ का सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलीस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य्य बढ़ने नही पाते ? न्यायकर्त्ता तो सदा ख़ूँख़्वार बना रहता है, क्योंकि वह क़ानून का पागल है, अभियोग लगानेवाला, पुलीस को ख़बर देनेवाला, पुलीस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द गिर्द मँड़राया करते है और किसी प्रकार अपना पेट पालते है, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज मे दुर्नीति का प्रचार नही करते ? मामलो-मुकदमो की रिपोर्ट पढ़िये, पर्दे के अन्दर नज़र डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतो के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा'।

यहाँ अगर हम 'समाज-विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुँचानेवाले', 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुख़बिर', 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखें तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इस रूप का प्रचार कैसे हो ?

इन उदाहरणो या मिसालो से जाहिर है कि हिन्दी-कोश मे उर्दू के और उर्दू-कोष मे हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गये हैं, उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, इसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हज़ारो संस्कृत शब्दो को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसकी बहुत-सी

मिसाले मिलती हैं, जिन्हे यहाँ लाकर मै आपका समय नही खराब करना चाहता, इसलिए कौमी भाषा मे भी उनका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दो की जगह, जिन्हे सर्व-साधारण नहीं समझते, ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये है कि उनको समझने मे जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब वे-पढ़े भी समझते है। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तो को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते है, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नही चाहता कि उसकी बात ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझें, ज्यादा-से-ज्यादा आदमियो के साथ उसका आत्मिक सम्बंध हो। हिन्दी मे एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमे संस्कृत के शब्द अधिक है इसलिए हिन्दी मे हमे अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहियें, ताकि अन्य प्रान्तो के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी को कोई फायदा नही। उन मित्रो को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबो के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलनेवाले न समझेगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलनेवाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दो का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दो का। हम इस सत्य की ओर से आँखे नहीं बन्द कर सकते, और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन मे तोड़-मोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा मे कुछ-न-कुछ अन्तर होता है; लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोल-चाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी

ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोल-चाल की भापा भी अवसर और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। विद्वानो के समाज मे जो भापा बोली जाती है, वह बाजार की भापा से अलग होती है। शिष्ट भापा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिये; लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार मे बाधा पड़े। फारसी शब्दो मे शीन-क़ाफ की बड़ी क़ैद है, लेकिन कौमी भापा मे यह क़ैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क'-ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल मे तो भापा के लिए सबसे महत्त्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी, चाहे वे किसी प्रान्त के रहनेवाले हो, समझें, बोलें, और लिखें। ऐसी भापा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियो की। उसका स्थान इन दोनो के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भापा में इबारत की चुस्ती और शब्दो के विन्यास की बहुत थोड़ी गुञ्जायश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भापा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है। बल्कि यो कहना चाहिये कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागिनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुननेवालो मे कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमे राष्ट्र-भापा का प्रचार करना है, तो हमे इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भापा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भापा कानो और आँखों को खटकेगी जरूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नजर आयेगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह टटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओ के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगे। पंडितजी भी खिलखिलायेंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे

और चारो तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे जबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिये यह साजिश की गई है, हिन्दी को डुबोने के लिए यह माया रची गई है ; लेकिन हमे इन बातो को कलेजा मजबूत करके सहना पडेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसो और अमीरो की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानो और मज़दूरो की भाषा बनना पड़ेगा। जैसे रईसो और अमीरो ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद मे पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओ मे बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाजारो मे और गलियो में बनती है ; लेकिन सभाओ मे बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का .गुल मचाते है, उधर अपनी अपनी जबानों के दरवाजो पर संगीनें लिये खड़े रहते है कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। हिन्दी मे हम उर्दू शब्दो को बिला तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दो को भी अन्दर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दो का इस्तेमाल करते है। जरा-जरा से मुजक्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गई है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम मे पहुँचे। जहाँ राष्ट्र-भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सब से बड़ी दिक्क़त इसी लिङ्ग-भेद के कारण पैदा हो रही है। हमे उर्दू के मौलवियो और हिन्दी के पण्डितो मे उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दो को कुछ नर्म करेगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके निरर्थक कैदो मे आज़ाद हो। और क्यो स्त्री लिङ्ग है और कान क्यों पुल्लिङ्ग है ? इसका कोई सन्तोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

राष्ट्रीय संस्थाओं से अपील

मेरी समझ मे यही बात नही आती कि जो संस्था जनता की भाषा

का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, चाहे वे समाजवाद वा समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आवें। संभव है, इस वक्त आपको राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत न मालूम होती हो और अँग्रेज़ी से आपका काम मजे से चल सकता हो; लेकिन अगर आगे चलकर हमे फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमे उन सारे नातों को मज़बूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें कौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अँग्रेज़ी को अपनी कौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आज़ादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आज़ादी के शहीद बन जाने की हविस है। यहाँ जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा न हो; लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक कौम देखना चाहते है—इसलिए नहीं कि वह कौम कमज़ोर क़ौमों को दबाकर, भाँति-भाँति के माया-जाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताकत पर घमण्ड करे, बल्कि इसलिए कि वह आपस मे हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फर्ज है कि कौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब कुछ हमारे हाथ मे है। विद्यालयों मे हम कौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए कौमी भाषा मे बोलना और लिखना लाज़िमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अँग्रेज़ी या बँगला, एक दो कॉलम क़ौमी भाषा के लिए अलग करा सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर कौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। आपस मे कौमी भाषा में बात-चीत कर सकते है। जब तक मुल्की दिमाग़ अँग्रेज़ों की .गुलामी में .खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट्र न बन

सकेगा। यह भी ज़ाहिर है कि एक प्रान्त या एक भाषा के बोलनेवाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तों के दिमाग़दार लोग उसमें सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम; लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शान्त हो जायगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ-सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके क़लम में मुर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ विचरते हुए नजर आयेंगे। तब हमें टैगोर, मुन्शी, देसाई और जोशी की कृतियों से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बँगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। कौमी भाषा के साथ कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर क़ौमी हो जायगा। इस अँग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वैलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मानूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुन्शी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डॉक्टर टैगोर भी अँग्रेजी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते, मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गान्धी के सिवा किसी भी दिमाग़ ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमग़े दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संघटित हुए बग़ैर हमारा दुनिया में जिन्दा रहना मुश्किल है। यक़ीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर दूसरी क़ौमों के साथ क़ौमी भाषा देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाज़िमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनाना है, उसे एक क़ौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इन हक़ीक़त को हम मानते हैं, लेकिन सिर्फ ख़याल में। उन पर अमल करने का



